पर हित और पराई पीर

प्रफुल्ल कोलख्यान

भारत की संस्कृति अपने स्वभाव से ही समावेशी है। मन चंगा हो तो कठौती की लघिमा में भी गंगा की महिमा को समाविष्ट मान लेनेवाला स्वभाव है इसका। इसका यह स्वभाव इसकी जीवन स्थितियों के नाना संघातों और जीवन प्रवाह के नाना थपेड़ों से बना है। इसने परायों का दिया दुख तो सहा ही, अपनों का दिया दुख भी कम नहीं सहा है। इस संस्कृति की संततियों के दुखसह जीवन से ही इसकी स्वाभाविक सहिष्णुता का विकास हुआ है। नाना विश्वास और आस्था को एक साथ जीने की कोशिश करनेवाला सहिष्णु मन। इन नाना विश्वासों और आस्थाओं के अपने अंतर्विरोधों को नजरअंदाज करना और उसके मूल संदेश को ग्रहण करना इसका स्वभाव है। यह भिन्न मत और पंथ के यतियों को तो स्वीकार कर लेता है, लेकिन अपने ही मत और पंथ के अतियों को भी सर्वत्र वर्जनीय मानता है।

हमलोग माँस-मछली खाते हैं, यह जानकर झारखंड के 'वैष्णव बाम्हनों' को बड़ा धक्का लगता था। वे हमें धिक्कारते थे। मेरे पिता इस धिक्कार से विचलित नहीं होते थे तो शायद इस धिक्कार के पीछे छिपकर मुस्कुरा रहे सत्कार को भी पहचानते थे! आज हम भारतीय मन में स्वतः-सक्रिय धिक्कार और सत्कार की मर्म-स्पर्शी भाषा को समझने की सांस्कृतिक प्रज्ञा खोते जा रहे हैं। यह खोना, कोई साधारण खोना नहीं है। यह अलग बात है कि बाहरी-भीतरी औपनिवेशिकता की मार से हुए संज्ञाघात के कारण खोने की इस

असाधारणता को लेखे में लेने की सांस्कृतिक स्थिति में हम नहीं रह गये हैं! जो हो, इस धिक्कार से विचलित हुए बिना मेरे पिताजी उन्हें समझाने की कोशिश करते थे कि हमलोग शाक्त हैं, शक्ति के उपासक! शाक्तों के लिए माँसाहारी होना शास्त्र-विहित है। बाद में जब साहित्य का विद्यार्थी बना तब विद्यापति के प्रसंग में उनके शैव, वैष्णव या शाक्त होने के पक्ष-विपक्ष में विद्वानों के तर्कों और गंभीर लगनेवाले मत-मतांतरों को पढ़कर लगा कि इस बात का महत्त्व है। विद्यापति के वैष्णव नहीं होने के बावजूद बंगाल के चैतन्य महाप्रभु उनके पदों को भाव-विभोर होकर गाते थे। शाक्त होने के बावजूद मेरे पिता जी के लिए सिर्फ काली या दुर्गा ही नहीं राम और कृष्ण भी परम आराध्य रहे। इतना ही नहीं, वे कबीर भी उनके बड़े प्रिय रहे जिन्होंने 'बँबूर के अंबार' की तुलना में 'चंदन की कुटकी' को और 'साषत के बड़ गाउँ' की तुलना में 'बैश्नौं की छपरी' को भली कहा।

तुलसीदास

'पर हित सरिस' किसी दूसरे धर्म को जानते नहीं थे। नरसी मेहता का भजन 'वैष्णव जन तो तेणे कहिए जे पीर पराई जाणैं रे' गाँधीजी को बहुत प्रिय था। वैष्णव जन की यह परिभाषा वैष्णवों की ही नहीं, मनुष्य की भी सबसे सटीक परिभाषा है। जो 'पराई पीर' को महसूस नहीं कर सकता वह वैष्णव क्या मनुष्य कहलाने का भी अधिकारी नहीं हो सकता। 'पर हित' और 'पराई पीर' धर्म और मनुष्यता की कसौटी है। 'पर हित' को अपना हित और 'पराई पीर' को अपनी पीड़ा समझनेवाला ही धर्म और मनुष्यता के मर्म को जान सकता है। दुखद यह है कि विष्णु के अवतार राम को सामने कर संस्कृति और धर्म के नाम पर सक्रिय कतिपय व्यक्तियों एवं संगठनों के लिए आज 'पर हित' और 'पराई पीर' के मर्म का कोई अर्थ नहीं रह गया है। अतीत बताता है कि नीयत अगर साफ हो तो नाम का उलटा जप करनेवाला डाकू रत्नाकर कवि बाल्मीकि बन

जाता है और वर्तमान बताता है कि नीयत साफ न हो तो शुद्ध उच्चारण के साथ नाम का सीधा जप करनेवाला भी डाकू बनकर दनदनाता फिरता है।

थोड़ा ठहर कर सोचने की जरूरत है कि 'सर्वभूतों' को आत्मवत बतानेवाली संस्कृति में 'पराई पीर' और 'पर हित' का 'पर' कौन है। इस 'पर' की पहचान क्या है? किसी के 'पर' हो जाने की प्रक्रिया क्या है? तुलसीदास का संदर्भ लें तो जिसे राम-वैदेही प्रिय नहीं हैं, उसे सबसे बड़े वैरी की तरह तज देना चाहिए, भले ही वह बहुत बड़ा स्नेही क्यों न हो! यहाँ 'राम-वैदेही' का व्यावहारिक अर्थ अपना इष्ट, अभिष्ट, प्रिय व्यक्ति और विचार ही हो सकता है। कुल मिलाकर यह कि जो आप से सहमत न हो उसे तज देना चाहिए! इस तज देने की कार्रवाई से ही 'पर' की अलग परिधि बनती है। आधुनिक समय में भी विचार और सिद्धांत के आधार पर अलग-अलग गोल के बनने की प्रक्रिया को स्वीकार किया जाता है लेकिन ऐसे किसी भी गोल को मानवीय गोल के अंदर और अनुकूलता की ही एक संरचना के रूप में वैधता हासिल होती है। अपने विश्वास और विचार के आधार पर अपने और पराये के निर्धारण की छूट तो है लेकिन यह छूट सशर्त है। शर्त यह कि 'पर' को भी एक स्तर पर आत्मवत मानने का आधार बचाये रखना होगा और उसकी पीड़ा और हित के प्रति संवेदनशील बने रहना होगा। रामवृक्ष बेनीपुरी ने विनोबा के प्रसंग में लिखा है कि जब वे भू-दान आंदोलन के सिलसिले में गया आये थे तो विभिन्न दलों के लोग अपने-अपने झंडों के साथ उनकी सभा में शामिल हुए थे। जब विभिन्न झंडों की ओर संकेत करते हुए इसे जन समुदाय के खंडित होने का लक्षण बताया गया तो बिनोबा ने बड़े सहज भाव से कहा था कि इन झंडों को लहरानेवाली हवा और थाम्हनेवाली धरती तो एक है, आप यह क्यों नहीं समझते! एक तरह से, नागार्जुन बता गये हैं कि किस तरह से विनोबा भी संत थे। वे ऐसा कह ही सकते थे। आज का विपन्न गृहस्थ मन तो इस हवा और धरती को ही नहीं झंडों के भी एक ही होने की बात जानता है और डंडों के सामने दंडवत है! उद्दंड न हो पाने के दुख को भोगता रहता है।

जनतंत्र का प्राण बहुमत है। जो बहुमत जनतंत्र का प्राण होता है वह मत न तो निरंकुश होता है और न निरपेक्ष ही हो सकता है। इस बहुमत को संवैधानिक प्रावधानों, विवेक और मानवीय मूल्यों की सापेक्षता के अधीन ही रहना होता है। भीड़तंत्र और जनतंत्र में यही तो अंतर है। बहुमत का अर्थ बहुसंख्यक का मत नहीं होता है। निरंकुश और निरपेक्ष सत्ता बहुमत के बदले बहुसंख्यक के मत का हल्ला मचाकर जनतंत्र को भीड़तंत्र में बदल देती है। इस तरह जिस चिराग से घर रौशन होना तय होता है उसी चिराग से घर में आग लग जाती है।

बेटी अपने पिता के घर में खुद पराई होती है तो पति का घर ही उसके लिए पराया होता है। इस पराये घर को अर्जित करने के लिए अपने अकेलेपन में उसे आजीवन संघर्ष करते रहना पड़ता है। आज हर व्यक्ति कहीं न कहीं अपने अकेलेपन से जूझ रहा है। आज व्यक्ति अपने संदर्भ में अकेला है और दूसरों के संदर्भ में समूह! अकेले व्यक्ति का आखेट आसान होता है। व्यक्ति को अकेला करने के लिए समूहन के विभिन्न आधारों जैसे क्षेत्र, गोत्र, धर्म, जाति, लिंग, भाषा, विचार, आदि में से सुविधानुसार कुछ को एक साथ सक्रिय कर दिया जाता है। किसी-न-किसी आधार पर उसे अकेला और पराया बना दिया जाता है। हत्यारों के लिए अपना कोई नहीं होता, जो होता है पराया ही होता है। हत्यारे सब कुछ बाँट रहे हैं। धरती, आकाश, हवा सब कुछ। हम जैसे साधारण लोग अपने ही गाँव और देश में पराये हो गये हैं। ऐसे में नहीं बचे यदि 'पर हित' और 'पराई पीर' का मर्म तो कैसे बचेंगे हम?

इस सामग्री के उपयोग के लिए लेखक की सहमति अपेक्षित है।
सादर, प्रफुल्ल कोलख्यान